Chapter- 6

===

अध्यायः छः

:: शैक्षिक एवं साहित्यिक संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में ....

===

PAGODA

:: अध्याय : छ: ::

छः: शैक्षिक एवं साहित्यिक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्दजी के कथा-साहित्य का अनुशीलन ::

प्रेमचन्दजी ने आजीवन अनेक प्रकार के संघर्ष किए हैं । इन संघर्षों में शैक्षिक एवं साहित्यिक संघर्ष भी हैं । शैक्षिक संघर्ष अर्थात् शिक्षा पाने के लिए किया गया संघर्ष । इसमें शैशवकाल के अन्तर्गत शिक्षा पाने हेतु एक शिशु-मन को जो संघर्ष करना पड़ता है, उसका भी शुमार है । शुरू में बच्चा पढ़ने से जी चुराता है । उसके सामने अनेक आकर्षण होते हैं । पढ़ाई का काम अपेक्षाकृत बोरियत से भरा हुआ होता है । दूसरे हमारे यहाँ उस जमाने में प्राथमिक शिक्षा का जो दर्रा था, और बहुत अंशों में आज भी है, वह ऐसा है कि उससे अधिकांश बच्चे तो प्राथमिक शिक्षा के स्तर से उससे अलग हो जाते हैं । शारीरिक-शिक्षा इस शिक्षा-पद्धति का एक बहुत बड़ा सिद्धान्त था । गुजराती में तो आज भी कहावत है -- "सोटी वागे चमचम, विद्या आवे झमझम" अर्थात् बच्चे के हाथ एवं

पीठ पर जैसे-जैसे सोटी पड़ती है , वैसे-वैसे विद्या आती है । उस समय के शिक्षक बच्चों की बुरी तरह से पिटाई करते थे । उन्हें तरह-तरह की शारीरिक शिक्षा [दण्ड] देते थे । इन कारणों से स्कूल जाते हुए बच्चों की रूह कांपती थी । उस समय की प्राथमिक शिक्षा का दूसरा सिद्धान्त था — तोता-रटण्त । बच्चों को बहुत-सी चीजों का घोटा मारना पड़ता था । यदि कोई चीज का घोटा न लगाया तो बच्चे "मास्साब" या "माटसाब" की मार से थर-थर कांपते थे । उस समय के मां-बाप भी शिक्षकों को इसके लिए प्रोत्साहित करते थे । मेरे पिताजी बता रहे थे कि उनके समय में मां-बाप बच्चे को स्कूल में भर्ती कराते समय कहते थे कि —"मास्तर साहेब खूब मारजो , चामडी ने मांस तमारुं , हाडकां अमारां " - अर्थात् "मास्टर साहब इसे खूब पिटना , चमड़ी और मांस आपका है , केवल हड्डियां हमारी हैं । " जब ऐसा पढ़ाई का माहौल हो , तो कौन बच्चा खुशी-खुशी "सरस्वती के इस मंदिर " में जायेगा । अतः जब हम शैक्षिक-संघर्ष कहते हैं , तो उसमें प्राथमिक दौर का यह संघर्ष भी शामिल है । प्रेमचन्दजी भी प्राथमिक दौर की पढ़ाई में जी चुराते थे । पढ़ने की तुलना में उन्हें सैर-सपाटे , मटरगश्ती , पतंगबाजी , किस्सा-कहानी आदि में ज्यादा मजा आता था । उनकी "चोरी" , "गुल्ली-डण्डा" , रामलीला" , "कज़ाकी" , "बड़े भाईसाहब" , "प्रेरणा" आदि कहानियों में इन सबका जिक्र मिलता है ।

परंतु कुदरत की मार के कारण नवाब असमय ही समझदार हो गया था और कुछ वर्षों बाद ही पढ़ाई के महत्व को समझने लगा था । परंतु जब पढ़ाई की धुन सवार हुई , तब उसका जरिया समाप्त हो गया । नवाब जब मैट्रिक में थे तब उनके पिताजी का स्वर्गवास हो गया । अतः वह साल तो उनका खराब गया । दूसरे वर्ष जैसे-तैसे परीक्षा दी तो सैकिण्ड डिविज़न आया , जिसने उनकी पढ़ाई के आगे के द्वार बन्द कर दिए । वे पढ़कर , एम.ए. , एल.एल.बी. करके वकालत करना चाहते थे , परंतु उनके इन सपनों पर तुषारापात हो गया । पढ़ाई की यह भूख उनमें हमेशा रही है , जो उनकी अनेक कहानियों में उनके अन्तर्मन

में फांस की तरह खटकतीरही है । अतः शिक्षा पाने के लिए किया गया संघर्ष भी उसके तहत ही आयेगा । बाद में जगह-जगह पर उन्हें जो अध्यापन कराना पड़ा , वह भी उनकी तबीयत का काम नहीं था । वे एक अच्छे शिक्षक थे और छात्रों को बहुत प्यार से पढ़ाते थे , परंतु प्राथमिक शिक्षकों को दूसरे जो अध्यापनेतर कार्य करने पड़ते थे , उससे उन्हें कोफ्त होती थी । अतः इसे भी एक किस्म का संघर्ष ही कहा जायेगा ।

साहित्यिक-संघर्ष भी उन्हें खूब करना पड़ा । लेखक बनने से पहले की तैयारी , अध्ययन , उसके बाद उर्दू के लेखकों में धीरे-धीरे अपना स्थान बनाने की जद्दोजहद , लिखे हुए को प्रकाशित कराने की मशक्कत , अंग्रेज-सरकार का कोपभाजन होने के बाद उर्दू से हिन्दी में नये नाम से शुरूआत करना , नौकरी और लेखन का संघर्ष , लेखक के सीधे-सरल मार्ग की अपेक्षा एक ऐसा मार्ग अपनाना जिनमें कइयों से विरोध हो सकता है , लक्ष्मी और सरस्वती की टकराहट , हिन्दी साहित्य की दरिद्रता की दुश्चिंता में घीरे रहना , "हंस" और"जागरण" की जेहमत , विरोधियों के कुप्रचार के सामने एक अविचल योद्धा के सदृश सीना तानकर खड़ा रहना और उनके विरोधों का मुंहतोड़ जवाब देना आदि को हम उनके साहित्यिक-संघर्ष के तहत ले सकते हैं ।

इस अध्याय में इन दोनों प्रकार के संघर्षों के परिप्रेक्ष्य में मुंशीजी के साहित्य का अनुशीलन करने का प्रयास हुआ है ।

:: शैक्षिक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में ::

जैसा कि ऊपर कहा गया , मुंशीजी ने इस क्षेत्र में जो संघर्ष किया है वह त्रिस्तरीय है — /क/ प्राथमिक शिक्षा का संघर्ष , /2/ माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षा हेतु किया गया संघर्ष और /3/ अध्यापकीय जीवन के दरमियान किए गए संघर्ष । इन संघर्षों के परिणामस्वरूप उनके उपन्यासों तथा कहानियों में उसके कुछ अक्श मिलते हैं । हमारा यत्न उन स्थानों एवं प्रसंगों की खोज है कि कहां पर स्वयं लेखक से अपनी दुखती रग पर हाथ पड़ गया है ।

§क§ प्राथमिक शिक्षा का संघर्ष :

छोटे-छोटे कोमल-मन ऋजु पुष्प से बच्चों के लिए तो प्राथमिक शिक्षा किसी बड़े घनघोर संघर्ष से कम नहीं होती । प्राथमिक शिक्षा का कुछ ढर्रा भी हमारे यहां ऐसा है कि अच्छा खासा बच्चा पढ़ाई से बिदक सकता है । प्रेमचन्दजी के शैशवकाल की स्थिति तो और भी भयंकर प्रकार की रही होगी । आज भी हमारे देश में ये शिशु-मंदिर या बालमंदिर कसाईवाड़े में पूरे हुए पशुओं से लगते हैं । पहले यह तो गनीमत थी कि छः-सात साल तो बच्चे को मां-बाप या परिवार का प्यार मिलता था, अब तो तीसरे ही वर्ष से बच्चे को नर्सरी-स्कूलों में भेज दिया जाता है । वस्तुतः नर्सरी का उद्देश्य बच्चे को शालाभिमुख करना होता है । दूसरे बच्चों के सहवास में उसकी अंदरूनी शक्तियों को बाहर लाने की चेष्टा करनी चाहिए । दूसरे बच्चों से वह प्यार के साथ खेलें यही उसका मकसद होना चाहिए । और इसलिए तो वहां पढ़ाई होनी ही नहीं चाहिए । परंतु शिक्षा के सिद्धान्तों को ताक पर रखकर वहां बच्चों की मानसिकता के साथ बलात्कार होता है । बचपन से ही "स्पर्द्धा" नामक राक्षस से उनका परिचय करवा दिया जाता है । कतिपय अच्छे §?§ स्कूलों में तो के.जी. सेक्सन में भर्ती कराने के लिए भी बच्चों के टेस्ट होते हैं । यदि ऐसा टेस्ट पंडित जवाहरलाल नेहरू या गांधी का होता तो सचमुच में फेल हो जाते । कई धनवान लोग तो इस शिक्षात्मक दौड़ में कहीं उनका घोड़ा पिछड़ न जाय इस डर से अपने बच्चों को बोर्डिंग स्कूलों में दाखिल करवा देते हैं और इस प्रकार बच्चे मां-बाप के प्यार के की नेमत से वंचित रह जाते हैं । खैर, प्रेमचन्द के जमाने में इतने छोटे बच्चों पर अत्याचार नहीं होते थे । परंतु बाद में जो स्कूल होते थे, वे उसकी पूरी कसर निकाल देते थे ।

उम्र के आठवें साल में नवाब की पढ़ाई शुरू हुई । ठीक वही पढ़ाई बड़े जिसका कायस्थ घरानों में चलन था, उर्दू-फारसी । लमही से मील सवामील की दूरी पर है एक गांव है लालपुर । वहीं एक मौलवी साहब रहते थे जो पेशे से तो दर्जी थे मगर मदरसा भी लगाते थे ।[1]

वहां लालपुर में मौलवी साहब के यहां पढ़ाई कैसे होती थी उसका वर्णन प्रेमचन्दजी ने अपनी "चोरी" कहानी में किया है । प्रेमचन्द अपने चचेरे भाई हलधर के साथ मौलवी साहब के यहां पढ़ने जाते थे । पढ़ने में तेज़ तथा कुशाग्र बुद्धि होने से उन्हें ज्यादा सजा नहीं होती थी , पर उससे बचने के लिए वे कैसे-कैसे नुस्खे अपनाते थे उसका बड़ा रोचक वर्णन उस कहानी में हुआ है —

"कभी-कभी हम हफ्तों गैरहाजिर रहते ; पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी हुई त्यौरियां उतर जातीं । उतनी कल्पना-शक्ति आज होती तो ऐसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते । अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है । खैर , हमारे मौलवी साहब दरजी थे । मौलवीगिरी केवल शौक से करते थे । हम दोनों भाई अपने गांव के कुरमी-कुम्हारों से उनकी खूब बड़ाई करते थे । यों कहिए कि हम मौलवी साहब के सफरी एजेंट थे । हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता , तो हम फूले न समाते । जिस दिन कोई अच्छा बहाना न सूझता , मौलवी साहब के लिए कोई न कोई सौगात ले जाते । कभी सेर आध-सेर फलियां तोड़ लीं , तो कभी दस-पांच ऊख ; कभी जौ या गेहूं की हरी-हरी बालें ले लीं , उन सौगातों को देखते ही मौलवी साहब का क्रोध शांत हो जाता । जब इन चीजों की फसल न होती , तो हम सजा से बचने का कोई और ही उपाय सोचते । मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक था । मकतब में श्यामा , बुलबुल , दहियल और चंडूलों के पिंजरे लटकते रहते थे । हमें सबक याद हो या न हो , पर चिड़ियों को याद हो जाते थे । हमारे साथ ही वे पढ़ा करती थीं । इन चिड़ियों के लिए बेसन बेसन पीसने में हम लोग खूब उत्साह दिखाते थे । मौलवी साहब सब लड़कों क को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे । इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी । कभी-कभी हमारी बला पतिंगों के ही सिर पर चली जाती थी । उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे । " [2]

उपरोक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि त्रासदायक शिक्षा और शिक्षकों से बचने के लिए बच्चे कैसे-कैसे हथकण्डे अपनाते थे । अमृतराय ने "कलम का सिपाही" में उस समय की "तोता-रटन्त" शिक्षा का अच्छा खाका खींचा है — " पढ़ाई का तरीका वही पुराना रहा होगा जो कि बादके तमाम नये प्रयोगों के बावजूद शायद सबसे अच्छा था यानी रटन्त । गणित के मास्टर साहब पहाड़ा रटाते थे और दर्जे भर के लड़के झूम-झूम कर समवेत गायन की तरह पहाड़े रटते थे — सात के सात , सात दूनी चौदह , सात तियां इक्कीस ... संस्कृत के पंडितजी गच्छति गच्छतः गच्छन्ति , रामः रामौ रामाः रटाते थे और मौलवी साहब आमदनामा लेकर माज़ी और मजहूल , हाल और मुस्तकबिल , अम्र और निही के तमाम सीग़ों में सैकड़ों मज़दरों और मुज़ारों की गिरदान करवाते थे — आमद आमदन्द आमदी आमदेद आमदम आमदेम । गोयद गोयन्द गोयी गोयेद गोयम गोयेम । क्या अजब कि यह चीज मौलवी साहब के दहियलों और चंडूलों की ज़ुबान पर लड़कों से पहले चढ़ जाती थी । " [3]

अपने समय की शिक्षा-पद्धति से चिढ़कर प्रेमचन्दजी ने "प्रेरणा" कहानी में उस पर नुक्ताचीनी करते हुए लिखा है — " हमारे देश में योग्य शिक्षकों का अभाव है । अर्द्ध-शिक्षित और अल्प वेतन पाने वाले अध्यापकों से आप यह आशा नहीं रख सकते कि वे कोई ऊंचा आदर्श आपके सामने रख सकें । अधिक से अधिक इतना ही होगा कि चार-पांच वर्ष में बालक को अक्षर-ज्ञान हो जायगा । मैं इसे पर्वत खोदकर चुहिया निकालने के तुल्य समझता हूं । वयस्क होने पर यह मरहला एक महीने में आसानी से तय हो सकता है । मैं अनुभव से कहता हूं कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं , उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते , फिर ख्वाहमख्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ ? मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती , प्राकृतिक अनुभव तो होते । पाठशाला में बन्द करके तो आप उसके मानसिक और शारीरिक दोनों विधानों की जड़ काट देते हैं । " [4]

आजकल पश्चिम के कतिपय देशों में जो "डीस्कूलिंग" की बात चल रही है , उसका कुछ-कुछ आभास , हमें उनके उक्त कथन में मिल जाता है और साथ ही प्रतीत होता है कि उनका चिंतन अपने युग से कितना आगे था ।

जैसा कि पहले कहा गया है बच्चों को सैर-सपाटे आदि में ज्यादा मजा आता है । स्कूल उन्हें काटता है । अतः स्कूल से भागने के बहानों को वे तलाशते रहते हैं । "कप्तान साहब" कहानी का जगतसिंह प्रेमचन्द का हमजोली था । उसके पिता ठाकुर भगतसिंह कसबे के डाकखाने में मुंशी थे । प्रस्तुत कहानी में जगतसिंह के लड़कपन का जो चित्रण है उसमें प्रेमचन्दजी के अपने मनोभाव भी छिपे हुए हैं —

"जगतसिंह को स्कूल जाना कुनैन खाने या मछली का तेल पीने से कम अप्रिय नहीं था । वह सैलानी , आवारा , घुमक्कड़ युवक था । कभी अमरूद के बागों की ओर निकल जाता और अमरूद के साथ माली की गालियां बड़े शौक से खाता । कभी दरिया की सैर करता और मल्लाहों की डोंगियों में बैठकर उस पार के देहातों में निकल जाता । गालियां खाने में उसे मजा आता । उसे बैंडबाजा बहुत पसंद था ।"[5] कुछ-कुछ इसी प्रकार की आवारगी बालक धनपतराय के स्वभाव में भी थी । जब वे अपने चचेरे भाई हलधर के साथ लालपुर मौलवी साहब के यहां पढ़ने जाते थे , तब मदरसे से प्रायः "गुल्ली" मार लिया करते थे । अपने मदरसे जाने का हाल उन्होंने अपनी "चोरी" नामक कहानी में लिखा है । इसका उल्लेख शिवरानीदेवी की पुस्तक "प्रेमचन्द घर में" भी हुआ है ,[6] अतः कहा जा सकता है कि यह कहानी प्रेमचन्द के जीवन से सम्बद्ध है । इस कहानी में वे लिखते हैं —

"हाय बचपन ! तेरी याद नहीं भूलती ! वह कच्चा , टूटा घर , वह पुवाल का बिछौना ; वह नंगे बदन , नंगे पांव खेतों में घूमना ; आम के पेड़ों पर चढ़ना — सारी बातें आंखों के सामने फिर रही है । चमरौधे जूते पहनकर उस वक्त कितनी खुशी होती थी , अब 'फ्लेक्स' के बूटों

से भी नहीं होती । गरम पनुए रस में जो मजा था , वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं ; चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था , वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता । ... मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गांव में एक मौलवी साहब के यहां पढ़ने जाया करता था । मेरी उम्र आठ साल की थी । हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझ से दो साल जेठे थे । हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियां खा, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे । फिर तो सारा दिन अपना था । मौलवी साहब के यहां कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं , और न गैरहाजिरी का जुर्माना देना पड़ता था । फिर डर किस बात का ! कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों को कवायद देखते , कभी किसी भालू या बंदर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते । कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते । गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था , उतना शायद टाइम-टेबिल को भी न था । " 7

बचपन के मधुर जीवन की स्मृतियां "घर जमाई" कहानी xx के हरिधन को भी परेशान करती हैं — "हरिधन को अपना बचपन याद आया , जब वह भी इसी तरह क्रीड़ा करता था । उसकी बाल-स्मृतियां उन्हीं चमकीले तारों की भांति प्रज्वलित हो गईं । वह अपना छोटा-xxxxx सा घर , वह आम का बाग , जहां वह केरियां चुना करता था , वह मैदान जहां वह कबड्डी खेला करता था , यह सभी उसे याद आने लगा । " 8

बचपन के खेल-तमाशों तथा आकर्षणों में रामलीला का आकर्षण भी जबरदस्त था । जब रामलीला प्रारंभ होती तो बालक नवाब की बाछें खिल जातीं । सारा समय उसके पीछे जाता । रामलीला करने वाले पात्रों को वे बहुत अहोभाव से देखते थे । "रामलीला" नामक कहानी में इसका उल्लेख xxxxxxxxxxx आता है । नवाब दोपहर से ही उस घर में जाकर बैठ जाते थे , जहां लीला में पार्ट लेनेवाले पात्रों को

तैयार किया जाता था , उनमें रंग-रूप भरा जाता था । लेखक वर्णन करते हैं — " एक ही आदमी पात्रों के श्रृंगार में कुशल था । वह बारी-बारी से तीनों पात्रों का श्रृंगार करता था । रंग की प्यालियों में पानी लाना , रामरज पीसना , पंखा झलना मेरा काम था । जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता तो , उस पर रामचन्द्र के पीछे बैठकर मुझे जो उल्लास , जो गर्व , जो रोमांच होता था , वह अब लाट साहब के दरबार में कुर्सी पर बैठकर भी नहीं होता । .... रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी । मैं अपने पाठ की चिंता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था , जिसमें वे फेल न हो जायं । मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी यह नीची कक्षा में पढ़ते थे । " [9]

इसी कहानी में एक स्थान पर गुल्ली-डण्डा के खेल की बात भी आती है । नवाब को इस खेल में कितनी दिलचस्पी थी उसका कुछ संकेत यहां मिल जाता है । यथा — "निषाद-नौका-लीला का दिन था । मैं दो-चार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली-डंडा खेलने लगा था । आज श्रृंगार देखने न गया । विमान भी निकला ; पर मैंने खेलना न छोड़ा । मुझे अपना दांव लेना था । अपना दांव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की जरूरत थी , जितना मैं कर सकता था । अगर दांव देना होता तो मैं कब का भाग खड़ा होता ; लेकिन पदाने में कुछ और ही बात होती है । खैर दांव पूरा हुआ । अगर मैं चाहता तो धांधली करके दस-पांच मिनट और पदा सकता था , इसकी काफ़ी गुंजाइश थी , लेकिन अब इसका मौका न था । " [10]

यहां किसीको यह प्रश्न हो सकता है कि ये सब तो खेल-तमाशे और मौज की बातें हैं , इसमें संघर्ष की बात क्या है ? वस्तुतः ये सब करने के लिए बच्चों को खूब मार खानी पड़ती है , खूब घुड़कियां सुननी पड़ती हैं । दूसरे प्रेमचन्द ने रस ले-लेकर ऐसे प्रसंगों का वर्णन किया है । कई बार जिन चीजों का अभाव होता है , उसके वर्णन में अधिक रस आता है । पढ़ने के पीछे कैसे-कैसे आकर्षणों और खेलों की बलि चढ़ानी पड़ती है ।

शैशवावस्था में शिक्षा के पीछे मन को जो मारना पड़ता है, शिक्षकों तथा बड़ों की मार और घुड़कियां खानी पड़ती हैं, कितने ही मनोरंजक खेलों व नजारों को छोड़ना पड़ता है और कैसे-कैसे विषयों के पीछे सिर खपाना पड़ता है उसका बड़ा ही मनोरंजक वर्णन लेखक ने "बड़े भाईसाहब" कहानी में किया है। बड़े भाईसाहब कथानायक "मैं" से पांच साल बड़े थे, किन्तु पढ़ने में केवल तीन दर्जे आगे, क्योंकि वे बार-बार फेल हो जाते थे। इस पर अपने छोटे भाई को खेलों में मशगूल रहने के लिए तथा न पढ़ने के लिए बार-बार अलग-अलग तरीकों से लताड़ते रहते थे और अपनी पढ़ाई की कठिनाई का जो चित्र खींचते थे उससे आंखों के सामने अंधेरा छाने लगता था। देखिए उनकी डांट का एक नमूना —

" मेरे फेल होने पर न जाओ। मेरे दरजे में आओगे, तो दांतों पसीना आयेगा, जब अलजबरा और जामेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे और इंगलिस्तान का इतिहास पढ़ना पड़ेगा। बादशाहों के नाम याद रखना आसान नहीं। आठ-आठ हेनरी हो गुजरे हैं। कौन-सा कांड किस हेनरी के समय में हुआ, क्या यह याद कर लेना आसान समझते हो? हेनरी सातवें की जगह, हेनरी आठवां लिखा और सब नंबर गायब। सफाचट। सिफर भी न मिलेगा, सिफर भी। हो किस खयाल में? दरजनों तो जेम्स हुए हैं, दरजनों विलियम, कोड़ियों चार्ल्स। दिमाग चक्कर खाने लगता है। आंधी रोग हो जाता है। इन अभागों को नाम भी न जुड़ते थे। एक ही नाम के पीछे दोयम, तेयम, चहारम, पंचम लगाते चले गए। मुझसे पूछते तो दस लाख नाम बता देता *"।

इसी कहानी में लेखक ने आधुनिक शिक्षा पर भी चिकौटी काटी है — "और जामेट्री तो बस खुदा की पनाह। अबज की जगह अजब लिख दिया और सारे नम्बर कट गये। कोई इन निर्दयी मुमतहिनों से नहीं पूछता कि आखिर अबज और अजब में क्या फर्क है, और व्यर्थ की बात के लिए क्यों छात्रों का खून करते हो? दाल-भात-रोटी खायी

या भात-दाल-रोटी खायी , इसमें क्या रखा है ; मगर इन परीक्षकों को क्या परवाह । वह तो वही देखते हैं , जो पुस्तक में लिखा है । चाहते हैं कि लड़के अक्षर-अक्षर रट डालें । और इसी रटंत का नाम शिक्षा रख छोड़ा है और आखिर इन बे-सिर-पैर की बातों के पढ़ने से फायदा ? इस रेखा पर वह लम्ब गिरा दो , तो आधार लम्ब से दुगना होगा । पूछिए , इससे प्रयोजन ? दुगना नहीं , चौगुना हो जाए , या आधा ही रहे , मेरी बला से , लेकिन परीक्षा में पास होना है , तो यह सब खुराफात याद करनी पड़ेगी । कह दिया — "समय की पाबंदी" पर एक निबंध लिखो , जो चार पन्नों से कम न हो । अब आप कापी सामने खोले , कलम हाथ में लिए , उसके नाम को रोइए । "[12]

इसमें गणित के काठिन्य का जो जिक्र है उसका एक कारण यह भी है कि स्वयं प्रेमचन्दजी के लिए गणित गौरीशंकर की चोटी के समान था । गणित के कारण ही उन्हें कालेज में प्रवेश नहीं मिला और जब "टिचर्स ट्रेनिंग" की परीक्षा पास की तब भी उसमें लिखा गया — " Not qualified to teach mathematics "[13] हालांकि अंग्रेजी, उर्दू , फारसी तथा इतिहास और भूगोल जैसे विषयों को वे बहुत अच्छी तरह पढ़ाते थे ।

घर के लोग भी छोटे बच्चों को जब-तब डांटते रहते हैं तथा उनसे अनेक छोटे-मोटे काम लेते रहते हैं , जिसके कारण वे कई बार या तो गृहकार्य नहीं कर पाते या स्कूल में देर से पहुंचते हैं , जहां उन्हें शिक्षक की मार खानी पड़ती है या जलिल होना पड़ता है । "निर्मला" उपन्यास का सियाराम इसका उदाहरण है । निर्मला अक्सर उससे सौदा मंगवाती है , सौदा ही नहीं मंगवाती बल्कि दो-दो तीन-तीन बार सौदा बदलवाने वापस भेजती है , जिसके कारण सियाराम स्कूल में लेट हो जाता है और अन्ततोगत्वा इन्हीं कारणों से त्रस्त होकर एक साधु के बहकावे में आकर घर छोड़कर भाग जाता है । यथा — "सहसा निर्मला फिर कमरे की तरफ आयी । उसने समझा था , सियाराम चला

गया होगा । उसे बैठे देखा , तो गुस्से से बोली — तुम अभी तक बैठे ही हो ? आखिर खाना कब बनेगा ? सियाराम ने आँखें पोंछ डालीं । बोला— मुझे स्कूल जाने में देर हो जायगी । निर्मला— एक दिन देर हो जायगी, तो कौन हरज है ? यह भी तो घर का काम है । सियाराम — रोज तो यही धन्धा लगा रहता है । कभी वक्त पर नहीं पहुंचता । घर पर भी पढ़ने का वक्त नहीं मिलता । कोई सौदा दो-चार बार लौटाए बिना नहीं लिया जाता । डांट तो मुझ पर पड़ती है , शर्मिन्दा तो मुझे होना पड़ता है , आपको क्या ? "[14]

"वरदान" उपन्यास का कमलाचरण भी खेल-तमाशों के पीछे पढ़ाई से जी चुराता है । फलतः उसे छात्रालय में रखा जाता है । "पहला दिन तो कमलाचरण ने किसी प्रकार छात्रालय में काटा । प्रातः से सायंकाल तक सोया किये । दूसरे दिन ध्यान आया कि आज नवाब साहब और तीखे मिर्ज़ा के बटेरों में बढ़ाऊ जोड़ हैं । कैसे-कैसे मस्त पट्ठे हैं । आज उनकी पकड़ देखने के योग्य होंगी । सारा नगर फट पड़े तो आश्चर्य नहीं । क्या दिल्लगी है कि नगर के लोग तो आनन्द उड़ायें और मैं पड़ा-पड़ा रोऊं । यह सोचते-सोचते उठा और बात-की-बात में अखाड़े में था । "[15] कमलाचरण डिप्टी श्यामाचरण का लड़का था , इसलिए उसके शौक कुछ आला दरजे के थे । बहरहाल पढ़ाई के इस हौवे के कारण तथा अध्यापकों की नालायकी के कारण कई-एक नौ-निहाल बरबादी के रास्ते पर चल पड़ते हैं । कमलाचरण , जियाराम, सियाराम आदि इसके उदाहरण हैं ।

§ख§ माध्यमिक तथा उच्चशिक्षा हेतु किया गया संघर्ष

यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रारंभ में तो प्रेमचन्द पढ़ने से जी चुराते थे , परंतु बाद में पढ़ाई की ओर उनका ध्यान चला गया और वे दिल लगाकर पढ़ने लगे । आठवीं से लेकर मैट्रिक्युलेशन और बाद में एफ़.ए. और बी.ए. किया , परंतु अनेक वर्षों बाद । प्रेमचन्द

के इस संघर्ष के संदर्भ में डा. हंसराज रहबर लिखते हैं — " जौ की रोटियां खाकर और फटे हालों रहकर धनपतराय ने मैट्रिक तो पास कर लिया , लेकिन उनकी मंजिल थी एम. ए. पास करना और वकील बनना । प्रतिकूल-परिस्थितियों में भी उन्होंने साहस नहीं छोड़ा । अपनी इस मंजिल तक पहुंचने के लिए उन्होंने बहुत-से पापड़ बेले , किन्तु फिर भी असफल रहे । अपनी इस असफलता का जिक्र प्रेमचन्द ने स्वयं किया है । "[16]

नवाब ने

मुंशी अजायबलाल जब गोरखपुर थे तब वहां के मिशन स्कूल से आठवां दर्जा ज्यों-त्यों पास कर लिया था , परंतु उसी साल उनकी बदली जमनिया हो गयी । नवाब को अब नवीं में नाम लिखाना था जो कि बनारस में ही संभव था । मुंशीजी ने नवाब से पूछा कि कितना खर्चा लगेगा ? नवाब ने जवाब में कहा कि पांच रूपये दे दीजियेगा । परंतु पांच रूपयों में क्या होता है , अतः नवाब को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा था । उसका वर्णन अमृतराय ने इस प्रकार किया है —

"पांव में जूते न थे । देह पर साबित कपड़े न थे । मंहगी अलग — दस सेर के जौ थे । स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी । काशी के क्वीन्स कालेज में पढ़ता था । हेडमास्टर ने फीस माफ़ कर दी थी । इम्तहान सिर पर था और मैं बांस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था । जाड़ों के दिन थे । चार बजे पहुंचता था । पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता । वहां से मेरा घर देहात में पांच मील पर था । तेज़ चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुंच सकता । और प्रातः काल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था , नहीं वक्त पर स्कूल न पहुंचता । रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता । फिर भी हिंमत बांधे हुए था ।"[17]

उपर्युक्त कथन से यह प्रमाणित होता है कि प्रेमचन्दजी को माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा था । जिस वर्ष मैट्रिक में पहुंचे उस वर्ष उनके पिताजी की मृत्यु हो गई । अतः परीक्षा में नहीं बैठ सके । एक वर्ष बाद ट्युशन आदि करते हुए मैट्रिक

तो हो गये पर दूसरे डिविज़न में । अतः क्विन्स कोलेज में भर्ती होने के ख्वाबों पर पानी फिर गया । फर्स्ट डिविजन से पास होते तो न केवल क्विन्स कालेज में प्रवेश मिलता , बल्कि फीस भी मुआफ़ हो जाती । संयोग से उसी वर्ष बनारस में हिन्दू कालेज खुल गया था । उसके प्रिंसिपल थे मि॰ रिचर्डसन । धनपतराय ने उसमें प्रवेश लेने का विचार किया । पहले रिचर्डसन साहब को घर पर मिले । उन्होंने कालेज पर आने के लिए कहा । मुलाकात हुई , परन्तु बात न बनी । फीस मुआफ नहीं हो सकती थी । किसीने बताया कि कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति की सिफ़ारिश मिल जाए तो काम हो सकता है । अतः धन-पतराय हररोज बारह मील की यात्रा करके घर लौटते , पर सिफ़ारिश का कोई जुगाड़ नहीं हो सकता था । आखिरकार कई दिनों के बाद एक ठाकुर इन्द्रनारायणसिंह से वे मिले और अपना दुखड़ा सुनाया । इस्हेंमे× वे कालेज की प्रबंध-कारिणी सभा में थे । उन्होंने प्रिंसिपल के नाम सिफारिशी चिट्ठी दे दी । परंतु किस्मत दो कदम आगे थी । घर पहुंचते ही ज्वर ने ऐसे पकड़ा कि दो हफ़्तों तक हिल भी नहीं सके । पुरोहितजी की औषधि से जब एक महीने बाद ठीक हुए तब फिर रिचर्डसन साहब से भेंट की । प्रवेशपत्र भरा गया । उस पर साहब ने लिखा था — "इसकी योग्यता की जांच की जाय । " अंग्रेजी के प्रोफेसर साहब ने तो फार्म पर "संतोषजनक" लिख दिया , परंतु बीज-गणित के प्रोफेसर साहब ने उनकी परीक्षा लेते हुए फार्म पर "असंतोषजनक" ऐसा लिख दिया और कालेज में प्रवेश मिलते-मिलते रह गया । इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए प्रेमचन्दजी ने लिखा है —

"नई संस्थाओं में प्रायः वही छात्र आते हैं , जिन्हें कहीं जगह नहीं मिलती । यहां भी यही हाल था । क्लासों में अयोग्य छात्र भरे हुए थे । पहले रेले में जो आया , वह भरती हो गया । भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है । अब पेट भर गया था ।

छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे । "[18]

उसके बाद तो घर की आर्थिक स्थिति के कारण प्रेमचन्दजी को स्कूल में नौकरी करनी पड़ी और मैट्रिक के अठारह साल बाद सन् 1916 में उन्होंने एफ.ए. पास किया और उसके तीन साल बाद सन् 1919 में बी.ए. । इस बीच में सन् 1904 में उन्होंने ओरिएन्टल इलाहाबाद यूनिवर्सिटी का स्पेशल वर्नाक्युलर इम्तहान भी उर्दू-हिन्दी में पास किया । इंटरमीडिएट का इम्तहान कई बार दिया ; लेकिन हर बार गणित में असफल रहे । आखिर जब यह विषय आवश्यक नहीं रहा और ऐच्छिक हो गया , तब उन्होंने उसे पास किया । उसमें उनके विषय थे -- अंग्रेजी , दर्शन , फ़ारसी, और वर्तमान काल का इतिहास । बी.ए. में उनके विषय थे -- अंग्रेजी , फ़ारसी और इतिहास । ये दोनों परीक्षाएं उन्होंने द्वितीय श्रेणी में पास कीं ।[19]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रेमचन्द में पढ़ने की खूब लगन थी , पर परिस्थितियों के सामने उन्हें झुकना पड़ा । सौतेली मां और भाइयों के पालन-पोषण का जिम्मा भी अब उन पर था । परंतु एम.ए. न कर पाने का कांटा उन्हें हमेशा सालता रहा । इसके कारण उनके किस्से-कहानियों में हमें कई ऐसे चरित्र मिलते हैं जो कई बातों में प्रेम-चन्द के प्रतिनिधि से लगते हैं । "लाल-फीता" कहानी का हरिविलास इसका एक उदाहरण है । उसके मन में भी पढ़ने की उत्कट इच्छा है । उसके लिए वह अथक संघर्ष जारी रखता है और अन्ततः उसके दृढ़ निश्चय की जीत होती है । उसके संघर्ष का एक चित्र देखिए --

"[illegible] विद्या पर जाति-विशेष या कुल का एकाधिपत्य नहीं होता । बाबू हरिविलास जाति के कुरमी थे । घर खेती-बारी होती थी , पर उन्हें बचपन से ही [illegible] विद्या-भ्यास का व्यसन था । यह विद्या-प्रेम देखकर उनके पिता रामविलास महतो ने बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लिया । उन्हें हल में न जोता । (हरिविलास) शनैः शनैः मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में पास हो गये ।

रामविलास ने समझा था अब फसल काटने के दिन आये । लेकिन जब मालूम हुआ कि यह विद्या का अन्त नहीं , बल्कि वास्तव में आरंभ है तो उनका जोश ठण्डा पड़ गया । किन्तु हरिविलास का अनुराग अब कठिनाइयों को ध्यान में न लाता था । उस दृढ़ संकल्प के साथ जो बहुधा दरिद्र , पर चतुर युवकों में पाया जाता है , वह कोलेज में दाखिल हो गया । वह एक रईस के लड़के को पढ़ाकर शिक्षा का खर्च पूरा कर लिया करता था । कई बार उसे एक-साथ बड़ी रकमों की जरूरत पड़ती थी । " 20

यही हरिविलास हमें "हार की जीत" कहानी में साम्यवाद के प्रोफेसर हरिदास भाटिया के रूप में मिलते हैं , जिनके विषय में उनकी बेटी लज्जावती बड़े×हरि×सर्व×से×हरि×है×××शारदाचरण नामक अपने पिता के एक विद्यार्थी जिसके पिता ताल्लुकेदार और रईस थे , से कहती है — "मेरे घर में कभी रियासत नहीं रही और कुल की अवस्था तुम भली भांति जानते हो । बाबूजी ने केवल अविरल परिश्रम और अध्यवसाय से यह पद प्राप्त किया है । मुझे वह दिन नहीं भूला है जब मेरी माता जीवित थीं और बाबूजी ।। बजे रात को प्राइवेट टयूशन करके घर आते थे । तो मुझे रियासत और कुल-गौरव का अभिमान कभी हो नहीं सकता । यह घमंड मुझे उसी दशा में होगा जब मैं स्मृतिहीन हो जाउंगी । " 21

इसी कहानी का प्रो. हरिदास भाटिया का दूसरा छात्र केशव जो गरीब है एम.ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होकर नागपुर के एक कालेज में अध्यापक हो जाता है ।[22]

प्रेमचन्द ने स्वयं अपने जीवन में अनेक असफलताएं देखी हैं , अतः अपने कथा-साहित्य में वे ऐसे पात्रों को ले आते हैं जो बहुत ही संघर्ष से ऊपर आते हैं और सफलता के शिखरों को सर करते हैं । "कप्तान साहब" का जगतसिंह एक ऐसा ही पात्र है । वह सैलानी , आवारा और घुमक्कड़ था । स्कूल जाने में नानी मरती थी । हमेशा कोई न कोई उधम मचाए रखता था । उसके पिता डाकखाने में मुंशी थे । एक दिन उनके 200/- रुपये उड़ाकर बम्बई चला जाता है । दूसरे दिन मुंशी

भक्मसिंह पर गबन का मुकदमा दायर होता है और उन्हें जेल हो जाती है । दूसरी तरफ आवारा और खिलंडरा जगत फौज में भरती हो जाता है और अपनी लगन , मेहनत और संयम से कप्तान जगतसिंह बन जाता है । जिसकी अपने घर और गांव में पूंछ नहीं थी , वह अब फौज का जिम्मेदार आफिसर बन जाता है । यथा —

"चार वर्ष बीत गए । कैप्टन जगतसिंह का-सा योद्धा उस रेजिमेण्ट में नहीं है । कठिन अवस्था में उसका साहस और भी उत्तेजित हो जाता है । जिस मुहिम में सबकी हिम्मतें जवाब दे जाती हैं , उसे सर करना उसी का काम है । हल्ले और धावे में वह सदैव सबसे आगे रहता है , उसकी त्यौरियों पर कभी मैल नहीं आता ; उसके साथ ही वह इतना विनम्र , इतना गंभीर , इतना प्रसन्न चित्त है कि सारे अफसर और मातहत उसकी बड़ाई करते हैं । उसका पुनर्जीवन-सा हो गया । उस पर अफसरों को इतना विश्वास है कि अब वे प्रत्येक विषय में उससे परामर्श करते हैं । जिससे पूछिए , वही वीर जगतसिंह की विरुदावली सुना देगा — कैसे उसने जर्मनों की मेगजीन में आग लगायी , कैसे अपने कप्तान को मैशीनगनों की मार से निकाला , कैसे अपने मातहत सिपाही को कंधे पर लेकर निकल गया । ऐसा जान पड़ता है , उसे अपने प्राणों का मोह नहीं , मानो वह काल को खोजता फिरता हो । " 23

जब भक्तसिंह के छुटने का अवसर आया तब वह सोचता था कि उस अभागे को लेने कौन आयेगा , परंतु जगतसिंह जब फिटन लेकर उसे लेने पहुंचता है , तब वह अपनी मलामत , बदनामी , कंगालियत सबको भूल जाता है । बेटे के प्रति की उसकी नफ़रत भी प्रेम में बदल जाती है । देखिए — " भक्तसिंह ने उसे ध्यान से देखा और तब चौंककर उठ खड़े हुए और बोले — अरे ! बेटा जगतसिंह ! ... जगतसिंह रोता हुआ उनके पैरों पर गिर पड़ा । " 24

"प्रेरणा" कहानी का सूर्यप्रकाश भी बड़ा उधमी लड़का था । कपट-क्रीड़ा में उसकी जान बसती थी । अध्यापकों को बनाने और चिढ़ाने, उद्योगी बालकों को छेड़ने और रुलाने में ही उसे आनंद आता था । ऐसे-

ऐसे षड्यंत्र रचता , ऐसे-ऐसे फंदे डालता , ऐसे-ऐसे बांधनू बांधता कि देखकर आश्चर्य होता था । गरोहबंदी में अभ्यस्त था । [25] परंतु वही सूर्यप्रकाश परिश्रम एवं अध्यवसाय से डिप्टी कमिश्नर के पद पर आसीन हो जाता है ।[26]

(ग) अध्यापकीय जीवन से सम्बद्ध संघर्ष :

यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रेमचन्दजी बी.ए. , एम.ए. करके वकालत या किसी ऊँचे ओहदे पर पहुंचना चाहते थे । परंतु इसमें वे सफल नहीं हुए । प्राथमिक या माध्यमिक स्कूल की मास्टरी उनकी अक्षxx आजीविका का साधन हो सकती है , उनके सपनों का आकाश नहीं । कुछ समय वे डिप्टी इन्सxx इन्सपेक्टर भी रहे , परंतु वहां भी निरंतर यात्राओं के कारण वे परेशान हो जाते थे , दूसरे यह उनके स्वास्थ्य को भी गवारा नहीं था । बहरहाल अपने घर-परिवार को चलाने के लिए उन्होंने ये सब नौकरियां कीं । "गोदान" उपन्यास में एक स्थान पर प्रेमचन्दजी ने एक वाक्य लिखा है , जो एक प्रकार से समूचे उपन्यास का निचोड़ है और जो लेखक की मनोदशा को भी व्यक्त करता है — "जीवन की ट्रेजेडी और इसके सिवा क्या है कि आपकी आत्मा क्रो जो काम करना नहीं चाहती , वही आपको करना पड़े । " [27]

सन् 1899 में मेंमक्षxx मिशन स्कूल , चुनारगढ़ में मासिक 18/- रूपये के वेतन पर अध्यापक की नौकरी कर तो ली , क्योंकि दूसरी नौकरी मिलती नहीं थी , परंतु यहां वे खुश नहीं थे । वेतन की तुलना में काम ज्यादा लिया जाता था । अध्यापन के अतिरिक्त दूसरे कई खुराफाती काम थे । हेडमास्टर त्यौहारों पर जाने के लिए भी छुट्टी नहीं देता था । इन सब चीजों से उन्हें बड़ी कोफ्त होती थी । प्रेम-चन्द के इस प्रारंभिक जीवन की झलक उनकी "होली की छुट्टी" नामक कहानी में मिलती है —

" मुझे एक प्राइमरी मदरसे में जगह मिल गई थी , जो मेरे

घर से ग्यारह मील पर था । हमारे हेड-मास्टर साहब को छुट्टियों में लड़कों को पढ़ाने का ख़ब्त था । रात को लड़के खाना खाकर मदरसे में आ जाते और हेड-मास्टर साहब चारपाई पर लेटकर अपने खर्राटों से उन्हें पढ़ाया करते । ....अप्रैल में सालाना इम्तहान होने वाले थे । इसलिए जनवरी से हाय-तोबा मची हुई थी । सहकारी अध्यापकों पर इतनी कृपा थी कि रात की क्लासों में उन्हें न बुलाया जाता था ; मगर छुट्टी बिलकुल न मिलती थी । सोमवती अमावस आई और निकल गई । शिवरात्रि आई और चली गई । और इतवारों का तो जिक्र ही क्या है । एक दिन के लिए कौन इतना बड़ा सफर करता । इसलिए कई महीनों से मुझे घर जाने का मौका न मिला था । मगर अब के मैंने पक्का इरादा कर लिया था कि होली पर जरूर घर जाऊंगा , चाहे नौकरी से हाथ ही क्यों न धोना पड़े । मैंने एक हफ्ता पहले ही से हेडमास्टर साहब को अलटिमेटम दे दिया था कि 20 मार्च को होली की छुट्टी शुरू होगी और बन्दा 19 की शाम को रुख़सत हो जायेगा । हेडमास्टर साहब ने मुझे समझाया कि अभी लड़के हो , तुम्हें क्या मालूम नौकरी कितनी मुश्किल से मिलती है और कितनी मुश्किलों से निभती है , नौकरी पाना इतना मुश्किल नहीं जितना इसका निभाना । 8 अप्रैल को इम्तहान होनेवाला है । तीन-चार दिन मदरसा बन्द रहा , तो बताओ कितने लड़के पास होंगे ? साल भर की मेहनत पर पानी फिर जायेगा कि नहीं । मेरा कहना मानो । इस छुट्टी में न जाओ । इम्तहान के बाद ईस्टर की चार दिन की छुट्टी होगी । मैं एक दिन के लिए भी न रोकूंगा ।' मैं अपने मोरचे पर डटा रहा । उपदेश , डर और जवाबतलबी — किसी तर्क का मुझ पर असर न हुआ । 19 को ज्योंही मदरसा बन्द हुआ , मैंने हेडमास्टर को सलाम भी न किया और चुपके से अपने निवास-स्थान पर चला आया । उन्हें सलाम करने जाता तो वह एक-न-एक काम निकालकर मुझे रोक देते । रजिस्टर में फ़ीस का जोड़ निकालते जाओ । औसत हाज़िरी लगाते जाओ । लड़कों की अभ्यास की कापियां इकट्ठी करके उनमें सुधार कर दो और तारीख़

आदि डाल दो । जैसे मेरा यह आखिरी सफर है और मुझे जिन्दगी के सारे काम भी ख़त्म कर लेने चाहिए । " 28

उक्त उद्धरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि स्कूल- मास्टरी के ऐसे कामों से प्रेमचन्दजी को सख़्त चिढ़ थी । नौकरी से विरक्ति का दूसरा कारण अल्प-वेतन था । लम्बा-चौड़ा परिवार और सीमित पगार । पैसों का हमेशा अभाव रहता था । पैसों की ऐसी तंगदस्ती का एक दृष्टांत स्वयं प्रेमचन्दजी ने दिया है — " एक बार की बात है , मैं घर आया । चार-पांच दिन रहा । जिस रोज़ मुझे वापस जाना था , चाची से रूपये मांगे । चाची बोली , ` रूपये ख़र्च हो गये ।` गांव में किससे ऋxxx उधार लेता ? गाड़ी के बहुत पहले मैं और विजयबहादुर चल दिये । एक साल पहले मैंने बड़ी मुश्किलों से एक गरम कोट बनवाया था । मगर जाड़ों में भी सूती पहनकर उसे बड़े जतन से रखा था । अब इसे शहर में दो रूपये में बेचा । तब मैं और विजयबहादुर चुनारगढ़ पहुंचे । " 29

अपनी कम पगार से प्रेमचन्दजी बहुत क्षुब्ध रहते थे । अतः "बोध" कहानी में वे लिखते हैं — "पंडित चन्द्रधर ने एक अपर प्राइमरी में मुदर्रिसी तो कर ली थी , किंतु सदा पछताया करते कि कहां से इस जंजाल में आ फंसे । यदि किसी अन्य विभाग में नौकर होते तो अब xx तक हाथ में चार पैसे होते , आराम से जीवन व्यतीत होता । यहां तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे कहीं पन्द्रह रूपये देखने को मिलते हैं । वह भी इधर आये , उधर गायब । न खाने का सुख , न xxx× पहनने का आराम । हमसे तो मजूर ही भले । " 30

"नमक का दारोगा" कहानी में बंशीधर के पिता वेतन के संबंध में कहते हैं कि माहवार पगार तो पूर्णमासी का चांद है , जो एक दिन दिखाई देता है , और फिर घटते-घटते गायब हो जाता है , जबकि बालाई आमदनी पानी का बहता हुआ सोता है , जिससे प्यास हमेशा बुझती रहती है ।

चुनारगढ़ के मिशन स्कूल की नौकरी से प्रेमचन्द प्रसन्न नहीं थे उसका एक कारण यह भी था कि ईसाई पादरियों द्वारा वहां बड़े जोरों से धर्म-प्रचार का कार्य हो रहा था । उस समय प्रेमचन्दजी पूर्णतया आर्य-समाज के प्रभाव में थे , अतः पादरियों की यह प्रवृत्ति उन्हें अच्छी नहीं लगती थी । वे इस धर्म-प्रचार को हिन्दू समाज के लिए घातक समझते थे । "खून सफेद" तथा "ममता" कहानी में हमें उनके इस असंतोष की झलक मिलती है ।

मास्टरी का काम पसंद न होने के बावजूद प्रेमचन्द को इस बात का संतोष था कि इसके द्वारा वे अपने परिवार का पालन-पोषण कर रहे हैं । "लाटरी" कहानी के निम्नलिखित शब्दों में भी इसका संकेत मिलता है । यथा — " मैं उन दिनों स्कूल मास्टर था । बीस रूपये मिलते थे । दस घर भेज देता था । दस में लस्टम-पस्टम अपना गुजारा करता था । ऐसी दशा में पांच रूपये का टिकट खरीदना मेरे लिए सफेद हाथी खरीदना था । " 31

मास्टरी का काम प्रेमचन्दजी को चाहे कैसा भी लगता हो , छात्रों के सम्मुख यह असंतोष कभी नहीं झलकता था । वे बहुत ही अध्य-वसाय और आनंदपूर्वक यह कार्य करते थे । उनके सभी विद्यार्थी उनके अध्यापन की तारीफ करते थे । अमृतराय ने [32] इस संदर्भ में लिखा है —

"पढ़ाने का उनका तरीका भीखनलाल {बस्ती में उनके हेडमास्टर} को पसंद हो या न हो , लड़कों को बहुत पसंद था , जैसा कि वहीं बस्ती में उनके एक छात्र मुहम्मद इसहाकखां ने बतलाया । मुंशीजी उनके दर्जे को उर्दू और अंग्रेजी पढ़ाते थे । उनके क्लास में जी कभी न ऊबता । यह नहीं कि कोर्स की पढ़ाई न होती थी , उससे छुटकारा कहां ; खास बात यही थी कि मुंशीजी बीच-बीच में लतीफे भी सुनाते थे । मजे में पैर उठाकर , पालथी मारकर कुर्सी पर बैठ जाते और खूब रस लेकर पढ़ाते । जहां उन्हें लगता कि लड़के अब कुछ ऊब रहे होंगे , बस एक चुटकुला छोड़

देते और लड़के बेतहाशा हंसने लगते । लुत्फ़ की बात यह थी कि मुंशीजी ख़ुद भी पूरी बेबाकी से उस हंसी में शरीक होते । डिसिप्लिन के खयाल से शायद यह तरीका बहुत ठीक नहीं था और कुछ अजब नहीं कि भीखनलाल को नागवार भी गुजरता हो , लेकिन मुंशीजी को इसमें कोई बुराई नज़र न आती । कोई जरूरी बात है कि पढ़ाई को ज़्यादा से ज़्यादा नीरस बना दिया जाय ? उनके लड़के जी लगाकर पढ़ते थे , हाजिरी उनके यहां सबसे अच्छी होती थी , नतीजा अच्छा होता था , और क्या चाहिए । पढ़ाने का ढंग वही सही है जिसमें लड़के शौक़ से और दिलचस्पी से पढ़ें । अनुशासन की उनके यहां भी कमी नहीं थी — पर यह अनुशासन बेंत का नहीं प्रेम का था , जो कठोर कम नहीं होता ।"[33]

शिक्षक की जिन्दगी आर्थिक परेशानियों की दृष्टि से [illegible] यदि रेगिस्तान है , तो विद्यार्थियों का संग , उनका प्रेम , उनमें से कुछेक विद्यार्थियों का पढ़-लिखकर ऊंचे ओहदों पर पहुंचना , अपने शिक्षक से भी ऊपर जाना , यह वह मरुद्वीप है , जो उसके जलते-झुलसते जीवन को ठण्डक पहुंचाता है । "प्रेरणा" कहानी का सूर्यप्रकाश इसका ज्वलंत उदाहरण है । वर्ग का सबसे तूफानी , शरीर लड़का , पर प्रेमचन्दजी के प्रेम के अनुशासन से घायल हो डिप्टी कमिश्नर बन गया । यथा —

"एक दिन मैं अपनी कक्षा को पढ़ा रहा था कि पाठशाला के पास एक मोटर आकर रुकी और उसमें से उस जिले के डिप्टी कमिश्नर उतर पड़े । मैं उस समय केवल एक कुर्ता और धोती पहने हुए था । इस वेश में एक हाकिम से मिलते हुए शर्म आ रही थी । डिप्टी कमिश्नर मेरे समीप आये , तो मैंने झेंपते हुए हाथ बढ़ाया ; मगर वह मेरे हाथ मिलाने के बदले मेरे पैरों की ओर झुके और उन पर सिर रख दिया । मैं कुछ ऐसा सिटपिटा गया कि मेरे मुंह से एक शब्द भी न निकला । मैं अंगरेजी अच्छी तरह लिखता हूं , दर्शनशास्त्र का भी आचार्य हूं , व्याख्यान भी अच्छे दे लेता हूं । मगर इन गुणों में एक भी श्रद्धा के योग्य नहीं । श्रद्धा तो ज्ञानियों और साधुओं के अधिकार की वस्तु है । अगर मैं

ब्राह्मण होता , तो एक बात थी । हालांकि एक सिविलियन का किसी ब्राह्मण के पैरों पर सिर रखना अचिंतनीय है । ... मैं अभी इसी विस्मय में पड़ा हुआ था कि डिप्टी कमिश्नर ने सिर उठाया और मेरी तरफ़ देखकर कहा — आपने शायद मुझे पहचाना नहीं ? इतना सुनते ही मेरे स्मृति-नेत्र खुल गये , बोला — आपका नाम सूर्यप्रकाश तो नहीं है ? ' जी हां , मैं आपका वही अभागा शिष्य हूं ।' ... मैं नहीं कह सकता कि सूर्यप्रकाश की उन्नति देखकर मुझे कितना आश्चर्यमय आनंद हुआ । अगर वह मेरा पुत्र होता , तो भी इससे अधिक आनंद न होता । " 34

"बोध" कहानी के पंडित चन्द्रधर को अपनी प्राइमरी की मुदर्रिसी पर बड़ा अफसोस होता था । पुलिस और अच्छी सरकारी नौकरी वालों से जलते-भुनते रहते थे । अपने पद को लेकर उनके मन में हमेशा लघुता-ग्रंथि बनी रहती थी । परंतु अयोध्या-यात्रा के दरमियान जब उन्हें कोई जगह नहीं मिली और रेत के मैदान में पड़े रहना पड़ा , तब अकस्मात् उनका एक पुराना छात्र कृपाशंकर मिल गया । वह म्युनिसिपालिटी में नौकरी करता था । उसका एक बड़ा मकान खाली पड़ा था । पं. चन्द्रधर के साथ दरोगा तथा सियाहेनवीस तथा उनके बाल-बच्चे भी थे । कुल दस प्राणी थे । कृपाशंकर सबको अपने यहां ले गया और वह सेवा और आवभगत की पंडितजी गदगद हो गये । वे लोग तीन दिन अयोध्या रहे । कृपाशंकर ने उनके साथ जाकर प्रत्येक धाम का दर्शन कराया । "तीसरे दिन जब लोग चलने लगे तो वह स्टेशन तक पहुंचाने आया । जब गाड़ी ने सीटी दी तो उसने सजल नेत्रों से पंडितजी के चरण छुए और बोला , कभी-कभी इस सेवक को याद करते रहिएगा । पंडितजी घर पहुंचे तो उनके स्वभाव में बड़ा परिवर्तन हो गया था । उन्होंने फिर किसी दूसरे विभाग में जाने की चेष्टा नहीं की । " 35

:: साहित्यिक-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में ::

पूर्ववर्ती पृष्ठों में मुंशीजी के साहित्यिक संघर्ष के कई ब्यौरे दिए गए हैं । एक सामान्य कायस्थ परिवार में जन्म लेकर साहित्य

की जिन बुलन्दियों का स्पर्श उन्होंने किया वह उनके अथक परिश्रम एवं संघर्ष का परिणाम है । सन् 1903 से जो उन्होंने लिखना शुरू किया, उनकी कलम अनवरत ढंग से चलती गई । उनकी दो जीवनियों के नाम ही — "कलम का मजदूर" तथा "कलम का सिपाही" — उनके संघर्ष, जीवट, अथक परिश्रम और जुझारूपन को संकेतित करती हैं । प्रेमचन्द ने जैनेन्द्रजी को बताया कि जब से उन्होंने होश संभाला [प्रेमचन्द के लिए होश संभालने का अर्थ होगा "कलम" संभालना] तब से बीमारी के दिन तथा दिल्ली-यात्रा के उन गिने-चुने दिनों को छोड़कर नियमित आठ घण्टे लिखते थे ।[36] कई बार तो बीमार अवस्था में भी शिवरानी देवी से चोरी-छिपे लिखने बैठ जाते थे । गोर्की की मृत्यु पर उसे श्रद्धांजलि देते हुए जो लेख उन्होंने लिखा था, इस समय उनकी शारीरिक अवस्था बहुत ही खराब चल रही थी । वह आलेख भी उनके बदले किसी दूसरे सज्जन ने पढ़कर सुनाया था ।[37] भवानीप्रसाद मिश्र के एक काव्य — "नई इबारत" — की प्रारंभिक पंक्तियां इस प्रकार हैं —

"कुछ लिखके सो,
कुछ पढ़के सो
तू जिस जगह जागा सवेरे
उस जगह से बढ़के सो ।"[38]

लगता है प्रेमचन्दजी इसी प्रकार के सिद्धान्त को मानते थे । उनके लेखन में एक निरंतर विकास का ग्राफ मिलता है । वे बने हुए लेखक नहीं, एक बनते हुए लेखक हैं । इस संदर्भ में डा. मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है — " एक तरह के वे उपन्यासकार होते हैं जो अपनी पहली ही रचना में कला के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए मालूम देते हैं, जैसे शरत्चन्द्र । पर प्रेमचन्द की कला में बराबर विकास होता रहा है । "मंगलसूत्र" के उपलब्ध अंश में उनकी कला अपने सारे क्लेशों तथा आवर्जनाओं को हटाकर अलग कर चुकी है । ... यह निर्विवाद सिद्ध है कि "मंगलसूत्र" में प्रेमचन्द की कला अपने सर्वश्रेष्ठ निखार पर है । "[39]

प्रेमचन्दजी के जीवन में अनेक प्रतिकूलताएं रही हैं , पर उनके भीतर के साहित्यकार ने उनमें से रास्ता खोज निकाला है । घर का वातावरण नितान्त असाहित्यिक । परंतु बालक नवाब पढ़ता रहा । बचपन में ही काफी कुछ पढ़ डाला । पारिवारिक-आर्थिक विवशताओं के कारण उच्च-शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके । परंतु प्रसादजी की तरह स्वाध्याय से खूब पढ़ा । इतना कि कोई यूनिवर्सिटी का छात्र या प्रोफेसर भी क्या पढ़ता होगा ।

'फ़िराक' गोरखपुरी ने भी उनके अध्ययन के शौक़ पर प्रकाश डाला है । इस संदर्भ में वे लिखते हैं -- " प्रेमचन्द किसी विशेष नियम से पुस्तकें नहीं पढ़ते थे । उन्हें , अधिकांश उन्हीं पुस्तकों और उपन्यासों से दिलचस्पी होती थी , जो रस्मो-रिवाज , परंपराओं , ऐतिहासिक घटनाओं और जीवन के दूसरे पहलुओं को सरल और रोचक ढंग से पेश करती थीं । इससे उनकी जिज्ञासा , खोज और साहित्य-प्रियता का भी पता चलता है । " 40

"कुछ विचार" तथा "मंगलसूत्र तथा अन्य रचनाएं " में संग्रहीत उनके साहित्य-विषयक लेखों व निबंधों से भी उनकी साहित्यिक अभिज्ञता प्रकट होती है । यहां एक तथ्य ध्यातव्य है कि हिन्दी के एक दूसरे उपन्यासकार भगवतीचरण वर्मा अकादमिक दृष्टि से प्रेमचन्द से काफी कुछ आगे पढ़े थे । परंतु तुलना की जाये तो उनका साहित्य-विषयक अध्ययन प्रेमचन्द से बहुत पिछड़ा हुआ था ।41 यह प्रेमचन्द के सन्दर्भ में एक गौरव-योग्य बात है कि उच्च अकादमिक शिक्षा के अभाव में भी उन्होंने एकलव्य की परंपरा को अपनाते हुए जो शिक्षा अर्जित की वह गौरतलब है । पुस्तकों के लिए उनके मन में जो प्रेम व अनुराग था , उसका जिक्र मिरज़ा फ़िदा अली 'खंजर' लखनवी के निम्नलिखित कथन से भी हो जाता है जो नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में उनके सहकर्मचारी थे -- "वह पुरानी कहानियों और किस्सों को बहुत ज्यादा पसंद करते थे ।चुनांचे जब कभी उनकी रुचि के अनुसार छोटी-मोटी पुस्तक मिल जाती , तो मैं उनकी सेवा में भेंट कर देता । वह प्रसन्न हो जाते और

अत्यन्त चाव से पढ़ते । जब वापस करने लगते तो उसके बारे में अपने विचार प्रकट करते । यह विचार उनकी आलोचना-शक्ति का सबूत होते थे । " 42

अभिप्राय यह कि प्रेमचन्द ने जो कुछ लिखा है , उसके पूर्व बहुत कुछ पढ़ा और गुना है । उनके अध्ययन की परिधि अत्यंत विस्तृत , आधुनिक एवं वैश्विक है । इस संदर्भ में जैनेन्द्रजी ने समुचित ही लिखा है — "मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं । योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होंने जाना है , जानकर ही नहीं छोड़ दिया , भीतर से पहचाना भी है और फिर विवेक से छानकर आत्मसात किया है । " 43

इस प्रकार अधिक पढ़ने का अवसर न मिलने परभी स्वाध्याय से बहुत पढ़ा और स्वयं इस योग्य बनाया कि कुछ श्रेष्ठतर लिख सकें । "कर्मभूमि" का अमरकान्त कहता है — " मैं अब तक व्यर्थ शिक्षा के पीछे पड़ा रहा । स्कूल और कालेज से अलग रहकर भी आदमी बहुत-कुछ सीख सकता है । " 44

अध्ययन के उपरांत , और यह अध्ययन सतत और आखिर तक रहा है , प्रकाशन के लिए जद्दोजहद , साहित्य में स्थापित होने के लिए जद्दोजहद , "सोजेवतन" के जब्त होने पर हिन्दी में नये सिरे से प्रयत्न करना , नयी राह का निर्माण करना , सरल-सुष्ठु पथ की अपेक्षा संघर्ष के मार्ग का चयन , हिन्दी कथा-साहित्य को ऊपर उठाने के प्रयत्न , युग-निर्माण का कार्य , "हंस" तथा "जागरण" के द्वारा हिन्दी साहित्य को ऊपर उठाने के भरसक प्रयत्न , उनके लिए बार-बार जमानतें भरना , कर्ज करना , लक्ष्मी के फिसलन भरे रास्ते से स्वयं को बचाते रहना ,लोगों के आरोपों का जवाब देना , "मोटेराम शास्त्री " के लिए मुकदमा चलना , कोर्ट से बरी होना , हिन्दी-उर्दू के लिए सतत लोगों से वार्ता करते रहना आदि उनके तमाम प्रयत्न उनके साहित्यिक संघर्ष को प्रतिफलित करते हैं ।

अपूर्ण उपन्यास "मंगलसूत्र" का नायक देवकुमार एक साहित्यकार है, अतः यदि वह पूर्ण होता तो उसमें प्रेमचन्दजी के साहित्यिक-संघर्ष की कुछ आभा देखने को मिलती। परंतु वह अपूर्ण है। तथापि वह जितना लिखा गया है, उतने से ज्ञात होता है कि देवकुमार का जो संघर्ष है, वह वस्तुतः प्रेमचन्दजी का ही संघर्ष है।

प्रेमचन्दजी जब हिन्दी में आये तब उसका कथा-साहित्य अत्यंत दरिद्र अवस्था में था। इसकी चिन्ता प्रेमचन्दजी को सतत रहती थी। अतः उनके प्रथम उपन्यास {हिन्दी में} "सेवासदन" में एक पात्र कुंअर अनिरुद्धसिंह के मुंह से उन्होंने कहलवाया है — " संगीत से हृदय में पवित्र भाव पैदा होते हैं। जब से गाने का प्रचार कम हुआ, हम लोग भावशून्य हो गए और उसका सबसे बुरा असर हमारे साहित्य पर पड़ा है। कितने शोक की बात है, जिस देश में रामायण जैसे अमूल्य ग्रंथ की रचना हुई, सूरसागर जैसा आनंदमय काव्य रचा गया, उसी देश में अब साधारण उपन्यासों के लिए हमको अनुवाद का आश्रय लेना पड़ता है। बंगाल और महाराष्ट्र में अभी गाने का कुछ प्रचार है, इसलिए वहां भावों का ऐसा शैथिल्य नहीं है, वहां रचना और कल्पना-शक्ति का ऐसा अभाव नहीं है। मैंने तो हिन्दी साहित्य को पढ़ना ही छोड़ दिया। अनुवादों को निकाल डालिए, तो नवीन हिन्दी साहित्य में हरिश्चन्द्र के दो-चार नाटकों और चन्द्रकान्ता सन्तति के सिवा और कुछ रहता ही नहीं। संसार का कोई साहित्य इतना दरिद्र न होगा। उस पर तुर्रा यह है कि जिन महानुभावों ने दो-एक अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद मराठी और बंगला अनुवादों की सहायता से कर लिए, वे अपने को धुरन्धर साहित्यज्ञ समझने लगे हैं। एक महाशय ने कालिदास के कई नाटकों के पद्यबद्ध अनुवाद किए हैं, लेकिन वे अपने को हिन्दी का कालिदास समझते हैं। एक महाशय ने `मिल` के दो ग्रंथों का अनुवाद किया है और वह भी स्वतंत्र नहीं, बल्कि गुजराती, मराठी आदि अनुवादों के सहारे, पर वह अपने मनमें ऐसे सन्तुष्ट हैं, मानो उन्होंने हिन्दी साहित्य का उद्धार कर दिया। मेरा तो यह निश्चय होता जाता है कि अनुवादों

से हिन्दी का अपकार हो रहा है । मौलिकता को पनपने का अवसर नहीं मिलने पाता । " 45

इसी उपन्यास में विद्या और साहित्य के क्षेत्र में जो हमारी गुलाम मनोदशा है , उसका चित्रण लेखक ने विट्ठलनाथ के द्वारा किया है । यथा — " इसीका नाम गुलामी है , बल्कि गुलाम तो एक प्रकार से स्वतंत्र होता है , उसका अधिकार शरीर पर होता है , आत्मा पर नहीं । आप लोगों ने तो अपनी आत्मा ही को बेच दिया है । आपकी अंग्रेजी शिक्षा ने आपको ऐसा पददलित किया है कि जब तक यूरोप का कोई विद्वान किसी विषय के गुण-दोष प्रकट न करे , तब तक आप उस विषय की ओर से उदासीन रहते हैं । आप उपनिषदों का आदर इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं आदरणीय हैं , बल्कि इसलिए करते हैं कि ब्लावेट्स्की और मैक्समूलर ने उनका आदर किया है । आपमें अपनी बुद्धि से काम लेने की शक्ति का लोप हो गया है । अभी तक आप तान्त्रिक विद्या की बात भी न पूछते थे । अब जो यूरोपीय विद्वानों ने उसका रहस्य खोलना शुरू किया , तो आपको अब तन्त्रों में गुण दिखाई देते हैं । यह मानसिक गुलामी उस भौतिक गुलामी से कहीं कहीं गई-गुजरी है । आप उपनिषदों को अंगरेजी में पढ़ते हैं , गीता को जर्मन में । अर्जुन को अर्जुना , कृष्ण को कृशना कहकर अपने स्वभाषा ज्ञान का परिचय देते हैं । आपने इसी मानसिक दासत्व के कारण उस क्षेत्र में अपनी पराजय स्वीकार कर ली , जहां हम अपने पूर्वजों की प्रतिभा और प्रचण्डता से चिरकाल तक अपनी विजय-पताका फहरा सकते थे । " 46

इसी उपन्यास में डा. श्यामाचरण जब अपने मित्रों से अंगरेजी में बात करते हैं और कुंवर अनिरुद्धसिंह द्वारा टोके जाने पर अंगरेजी को Lingua Franca [सार्वदेशिक भाषा] कहते हैं , तब उसके जवाब में कुंवर साहब कहते हैं — " उसे आप ही लोगों ने तो यह गौरव प्रदान कर रखा है । फारस और काबुल के मूर्ख सिपाहियों और हिन्दू

व्यापारियों के समागम से उर्दू जैसी भाषा का प्रादुर्भाव हो गया । अगर हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रांतों के विद्वज्जन परस्पर अपनी ही भाषा में संभाषण करते , तो अब तक कभी एक सार्वदेशिक भाषा बन गई होती । जब तक आप जैसे विद्वान् लोग अंगरेजी के भक्त बने रहेंगे , कभी एक सार्वदेशिक भाषा का जन्म न होगा । मगर यह काम कष्टसाध्य है , इसे कौन करे ? यहां तो लोगों को अंगरेजी जैसी समुन्नत भाषा मिल गई , सब उसीके हाथों बिक गए । मेरी समझ में नहीं आता कि अंगरेजी भाषा बोलने और लिखने में लोग क्यों अपना गौरव समझते हैं । मैंने भी अंगरेजी पढ़ी है । दो साल विलायत रह आया हूं और आपके कितने ही अंगरेजी के धुरन्धर पंडितों से अच्छी अंगरेजी लिख और बोल सकता हूं , पर मुझे उससे ऐसी घृणा होती है , जैसे किसी अंग्रेज के उतारे कपड़े पहनने से । "47

इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि आज आजादी के 49 वर्ष बाद भी अंग्रेजीयत जैसी-की-तैसी है , बल्कि और बढ़ रही है । गुजराती के सुप्रसिद्ध विवेचक एवं चिंतक डा. यशवंत शुक्ल ने सम्प्रति एक लेख का शीर्षक दिया था —"स्वतंत्र भारत की गुलामी की समस्याएं " अर्थxx — कितना विचित्र फिर भी वास्तविक शीर्षक । 48 यहां एक बात ध्यातव्य रहेगी कि प्रेमचन्दजी अंग्रेजीयत के विरोधी थे । अंग्रेजी साहित्य के नहीं , क्योंकि किसी भी भाषा का साहित्य , केवल उस भाषा-भाषियों का न होकर समग्र मानवता का हो जाता है । इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध उपन्यासकार और नाटककार गुरचरण दास का कहना है —"Nor should we dismiss a literary work just because it comes from another country. We should have inner confidence and security to accept that it is everyone's inheritance, fed by the common resources of human species" (49)

और प्रेमचन्दजी भी इस मत के पक्के हिमायती थे , क्योंकि उन्होंने विश्व-साहित्य की अनेक पढ़ने योग्य कृतियों को पढ़ा था । अपने अंतिम दिनों में मृत्यु-शैय्या पर पड़े-पड़े भी उन्होंने डिकेन्स की अमर

कृति "पिकविक पेपर्स" पढ़ने की इच्छा बाबू गंगाप्रसाद मिश्र से की थी ।[50]

"मंगलसूत्र" उपन्यास में साहित्यिक देवकुमार का जो मनोमंथन है, वह एक प्रकार से प्रेमचन्दजी का ही मनोमंथन प्रतीत होता है । उनके {देवकुमार के} मन में बार-बार यह यक्ष-प्रश्न उठ रहा था कि संसार में कुव्यवस्था क्यों है ? कर्म और संसार का आश्रय लेकर वे किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाते थे । सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी सुलझ नहीं रही थी । अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यों है ? क्यों एक आदमी जिन्दगी भर बड़ी-से-बड़ी और कड़ी-से-कड़ी मेहनत करने के बावजूद भूखों मरता है, क्यों दूसरा आदमी हाथ-पैर न हिलाने पर भी फूलों की सेज पर सोता है । यह सर्वात्म है, या घोर अनात्म ?[51] "कहां है न्याय ? कहां ? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोंचकर खा लेता है, कानून उसे सज़ा देता है । दूसरा अमीर आदमी दिन-दहाड़े दूसरों को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है । कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बांधकर आते हैं और निरीह, दुर्बल मजदूरों पर आतंक जमाकर अपना गुलाम बना लेते हैं । लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नामों से उसे लूटना शुरू करते हैं, और आप लंबा-लंबा वेतन उड़ाते हैं, शिकार खेलते हैं, नाचते हैं, रंग-रेलियां मनाते हैं । यही है ईश्वर का रचा हुआ संसार ? यही न्याय है ? ... हां देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं । उन्हें अब भी संसार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है । वे अपने जीवन की आहुति देकर संसार से विदा हो जाते हैं । लेकिन उन्हें देवता क्यों कहो ? कायर कहो, आत्मसेवी कहो । देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे । अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है और अगर उसकी आंखों में कुव्यवस्था खटकती ही नहीं तो वह अंधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नहीं । और यहां देवता बनने की जरूरत भी नहीं । देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएं फैलाकर इस अनीति को अमर

बनाया है । मनुष्य ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कहीं अच्छा होता ? नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा । दरिन्दों के बीच में, उनसे लड़ने के लिए हथियार बांधना पड़ेगा । उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं, जड़ता है । " 52

इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें प्रेमचन्दजी "गोदान" से और एक कदम आगे बढ़ते हैं । यह उपन्यास यदि पूरा होता तो शायद प्रेमचन्द साहित्य का एक और उच्च शिखर हमें देखने को मिलता । श्रीपतराय ने डा. मन्मथनाथ गुप्त को जो पत्र लिखा था उसमें बताया था कि "मंगल-सूत्र" भी "गोदान " की तरह आत्मकथामूलक उपन्यास है ।[53] यहां शास्त्रीय या अकादमीय दृष्टि से तो हम "गोदान" या "मंगलसूत्र" को आत्मकथामूलक नहीं कह सकते ; परंतु एक दूसरी दृष्टि से हम उन्हें आत्म-कथामूलक कह सकते हैं । "गोदान" का होरी और "मंगलसूत्र" के देवकुमार प्रेमचन्द के ही प्रतिरूप हैं । किसीको प्रश्न हो सकता है कि होरी तो किसान है और प्रेमचन्द लेखक हैं । परंतु हमें उनके बाह्य-जीवन नहीं, अपितु आंतरिक जीवन में झांकना चाहिए । होरी यदि अपनी मान-मर्यादा, नीति-धर्म, सच्ची-झूठी मान्यताएं और अन्धविश्वासों के दायरे से बाहर आता, केवल अपनी जिन्दगी जीता, अपने हितों की बातें सोचता तो काफी सुखी रह सकता था । पर उसने ऐसा नहीं किया और उसमें किसान से मजदूर हो गया । यह किसान से मजदूर होने की ट्रेजडी प्रेमचन्द की भी है । वे भी यदि केवल अपनी जिन्दगी जीते, नौकरी करते, लिखते और टके गिनते तो काफी सुखी और संपन्न हो सकते थे । पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, फलतः सांसारिक दृष्टि से, बाह्य दृष्टि से, वे बुरी तरह असफल रहे और उनके अंतिम दिनों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके परिवार वाले भी उनकी इस प्रवृत्ति से संतुष्ट नहीं थे । "मंगलसूत्र" उपन्यास में एक स्थान पर उन्होंने इसे संकेतित किया है । यथा —

" संतकुमार [देवकुमार का पुत्र] का महत्त्वाकांक्षी मन रह-रह कर अपने पिता पर कुढ़ता रहता था । पिता और पुत्र के स्वभाव में इतना अंतर कैसे हो गया यह रहस्य था । देवकुमार के पास जरूरत से हमेशा कम रहा , पर उनके हाथ सदैव खुले रहे । उनका सौन्दर्य भावना से जागा हुआ मन कंचन की उपासना को जीवन लक्ष्य न बना सका । यह नहीं कि वह धन का मूल्य न जानते हों । मगर उनके मन में यह धारणा जम गयी थी कि जिस राष्ट्र में तीन-चौथाई प्राणी भूखों मरते हों वहां किसी एक को बहुत-सा धन कमाने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है , चाहे इसकी उसमें सामर्थ्य हो । मगर संतकुमार की लिप्सा ऐसे नैतिक आदर्शों पर हंसती थी । कभी-कभी तो निस्संकोच होकर वह यहां तक कह जाता था कि जब आपको साहित्य से प्रेम था तो गृहस्थ बनने का क्या हक था । आपने अपना जीवन तो चौपट किया ही , हमारा जीवन भी मिट्टी में मिला दिया । " 54

"रंगभूमि" के सूरदास और ताहिरअली के जीवन की असफलता भी मानो प्रेमचन्दजी की ही असफलता है । सूरदास का वह अंतिम कथन मानो प्रेमचन्द का ही अंतिम कथन है -- " तुम जीते , मैं हारा । यह बाजी तुम्हारे हाथ रही , मुझसे खेलते नहीं बना । तुम मंजे हुए खिलाड़ी हो , दम नहीं उखड़ता , खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है । हमारा दम उखड़ जाता है , हांफने लगते हैं और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते , आपस में झगड़ते हैं , गाली-गलौज, मार-पीट करते हैं , कोई किसीकी नहीं मानता । तुम खेलने में निपुण हो , हम अनाड़ी हैं । बस , इतना ही फरक है । तालियां क्यों बजाते हो , यह तो जीतने वालों का धरम नहीं ? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोकना । हम हारे तो क्या , मैदान से भागे तो नहीं , रोये तो नहीं , धांधली तो नहीं की । फिर खेलेंगे , जरा दम ले लेने दो , हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक-न-एक दिन हमारी जीत होगी , जरूर होगी । " 55

"मंगलसूत्र" का संतकुमार और "गोदान" का गोबर एक जैसे लगते हैं । प्रेमचन्द का साहित्यिक-संघर्ष उनके समूचे साहित्य में रोटी में नमक की तरह मिल गया है । उनका जीवट और जुझारूपन अनेक पात्रों में परिलक्षित होता है, जिसे पूर्ववर्ती पृष्ठों में एकाधिक बार संकेतित किया गया है । अंग्रेजी की एक कहावत है — Man knows by the company he keeps — इसे लेखक के संदर्भ में भी कह सकते हैं — An author is known by the characters he creats — अर्थात् लेखक की पहचान उसके द्वारा निर्मित पात्रों से होती है । पूरे प्रेमचन्द साहित्य में हमें ऐसे पात्रों के दर्शन होते हैं जो जीवन-संघर्ष में पूरी तरह लगे हुए हैं ।

प्रेमचन्द के साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात हुए बिना नहीं रहता कि उसमें हमें एक विकास मिलता है । यह विकास उनके साहित्यिक संघर्ष का परिणाम है । उनके साहित्य में हम स्थूल से सूक्ष्म, आदर्श से यथार्थ, आर्यसमाज से गांधीवाद और गांधीवाद से मार्क्सवाद की यात्रा देखने को मिलती है । परंतु उनके लेखन की जो रीढ़ है, उस पर वे पूरी मुस्तैदी से खड़े हैं और वह रीढ़ है उनकी मानवतावादी विचारधारा । सदैव मानवीय सरोकारों को लेकर वे लड़ते रहे हैं ।

प्रेमचन्द साहित्य के जो प्रगतिशील आयाम हैं, वे भी उनके साहित्यिक संघर्ष को रेखांकित करते हैं । वे भी मनोरंजनप्रधान और वायवी उपन्यासों की सृष्टि कर सकते थे, और उसका मादा भी था ~~हम~~ उनमें । तिलस्मे-होशरूबा तथा चन्द्रकान्ता और पुराण खूब पढ़े थे उन्होंने, परंतु जब कलम को थामा तो रतननाथ सरसार के मार्ग को अपनाया । सीधा-सरल रास्ता छोड़कर संघर्ष के रास्ते को अपनाया । उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि मैं साहित्य को "मेस्कुलाइन"[56] देखना चाहता हूं । सस्ती भावुकतापूर्ण रचनाओं से उन्हें चिढ़ थी । जैसे कहा जाता है कि वैयक्तिक या मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में Man in contemplation को पाया जाता है; ठीक उसी तरह हमें प्रेमचन्दजी के उपन्यासों तथा कहानियों में Man in struggle मिलता है ।

अध्याय के अंत में उसके समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं —

§1§ शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में भी प्रेमचन्दजी को अत्यंत संघर्ष करना पड़ा । उच्च-शिक्षा प्राप्त कर वकालत या किसी ऊंचे ओहदे पर काम करने के उनके सपनों पर कुठाराघात हुआ । पिताजी की मृत्यु के पश्चात् पारिवारिक बोझ ने उन्हें नौकरी करने पर विवश किया । उच्च-शिक्षा के मार्ग में एक बड़ा अवरोध गणित में उनकी अक्षमता का भी रहा , अन्यथा वह नौकरी करते हुए या ट्यूशन करते हुए भी शिक्षा जारी रखते ।

§2§ उनका शैक्षिक संघर्ष तीन आयामों में विभाजित है — प्राथमिक शिक्षा के लिए किया गया संघर्ष , माध्यमिक एवं उच्च-शिक्षा हेतु किया गया संघर्ष तथा शिक्षक की नौकरी के दरमियान किया गया संघर्ष । ये तीनों प्रकार के संघर्ष की छाया उनके साहित्य में मिलती है ।

§3§ उपर्युक्त संघर्ष मुख्यतः "कप्तान साहब" , "प्रेरणा" , "बोध" , "होली की छुट्टी" , "चोरी" , "बड़े भाईसाहब" , "रामलीला" , "हार की जीत" , "लाल-फीता" जैसी कहानियों तथा "निर्मला" , "वरदान" , "कर्मभूमि" तथा "गोदान" जैसे उपन्यासों में पाया जाता है ।

§4§ साहित्यिक संघर्ष तो प्रेमचन्दजी के जीवन में हमेशा से रहा है । यह संघर्ष उनके समूचे साहित्य में पुष्प में परिमल की भांति रहा है , तथापि "गोदान" , "रंगभूमि" , "प्रेमाश्रम" , "मंगलसूत्र" प्रभृति उपन्यासों में उसे संकेतित कर सकते हैं । यह उस संघर्ष का ही परिणाम है कि उनके कथा-साहित्य में लेखक की संवेदना उन पात्रों के साथ सविशेष रही है ब जिनका जीवन संघर्षपूर्ण है ।

===== ===== XXXX =====

:: संदर्भानुक्रम ::

(1) द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : पृ. 14 ।

(2) मानसरोवर भा-5 : पृ. 112

(3) कलम का सिपाही : पृ. 16 ।

(4) मानसरोवर भा-4 : पृ. 9

(5) मानसरोवर भा-5 : पृ. 314 ।

(6) द्रष्टव्य : प्रेमचन्द घर में : पृ. 2 ।

(7) मान सरोवर भा-5 : पृ. 111 ।

(8) मानसरोवर भा-8 : पृ. 152

(9) मंगलसूत्र तथा अन्य रचनाएं : पृ. 141 - 142 । (10) वही:पृ. 142 ।

(11) मानसरोवर भा-1 : पृ. 93 (12) वही : पृ. 93-94 ।

(13) लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : पृ. 12 ।

(14) निर्मला : पृ. 132-133 ।

(15) वरदान : पृ. 48 ।

(16) "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : पृ. 16 ।

(17) कलम का सिपाही : पृ. 33 (18) वही : पृ. 37 ।

(19) द्रष्टव्य : "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व : " पृ. 28 ।

(20) प्रेमचतुर्थी : पृ. 52 ।

(21) मंगलसूत्र तथा अन्य रचनाएं : पृ. 15 । (22) वही : पृ. 15 ।

(23) मानसरोवर भा-5 : पृ. 319 (24) वही : पृ. 322 ।

(25) द्रष्टव्य : मानसरोवर भा-4 : पृ. 5 (26) द्रष्टव्य : वही :पृ. 11

(27) "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : पृ. 301 ।

(28) कलम का मजदूर : पृ. 33-34 (29) वही : पृ. 33 ।

(30) मानसरोवर भा-8 : पृ. 72 ।

(31) मानसरोवर भा-2 : पृ. 302 ।

(32) सम्प्रति दिनांक 14-8-96 को अमृतराय का निधन हो गया ।
टाइम्स आफ इण्डिया : 13-8-96 : पृ. 1 ।

(33) कलम का सिपाही : पृ. 144 ।

(34) मानसरोवर भा-4 : पृ. 11-12 ।

(35) मानसरोवर भा-8 : पृ. 79 ।

(36) द्रष्टव्य : प्रेमचन्द और उनका युग : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 190-191

(37) कलम का सिपाही : पृ. 632 ।

(38) [illegible] लोकप्रिय कवि-भवानीप्रसाद मिश्र : पृ. 25 ।

(39) "प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार" : पृ. 358 ।

(40) "प्रेमचन्द : जीवन, कला और कृतित्व" : पृ. 29 ।

(41) हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 106

(42) "40" के अनुसार : पृ. 29-30 ।

(43) प्रेमचन्द : एक कृती व्यक्तित्व : जैनेन्द्रकुमार : पृ. 21 ।

(44) कर्मभूमि : पृ. 90 ।

(45) सेवासदन : पृ. 150-151 (46) वही : पृ. 177

(47) वही : पृ. 180 (48) संदेश : 19-8-96 : पृ. 12 ।

(49) टाइम्स आफ इण्डिया : 18-8-96 : पृ. 6 ।

(50) द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : पृ. 539 ।

(51) मंगलसूत्र तथा अन्य रचनाएं : पृ. 230 (52) वही : पृ. 231 ।

(53) "प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार" : पृ. 357 ।

(54) मंगलसूत्र तथा अन्य रचनाएं : पृ. 206 ।

(55) रंगभूमि : पृ. 558 ।

(56) द्रष्टव्य : कलम का सिपाही : पृ. 58 ।

====== xxxxxxx ======